आत्मोल्लासः

: १ :

भक्तिसे ज्ञानतक

सन्द्भिः कृष्णानुरक्तैरतिरसजननीं प्राप्य गोपालदीक्षां
वीक्षाञ्चक्रे तदीयां निजनयनमनोमोहनीमात्ममूर्तिम्।
शिष्टैरिष्टैर्विशिष्टैरविषयविषयां शांकरीं ब्रह्मविद्यां
लब्ध्वात्मन्यात्मतुष्टोऽनुभवति परमं तत्त्वमात्मस्वरूपम्॥ १॥

कृष्णानुरागी सन्तोंसे भगवद्भक्तिरसजननी गोपालमन्त्र-दीक्षा प्राप्त करके उनकी निजनयनमनोमोहनी आत्ममूर्तिका दर्शन प्राप्त किया। विशिष्ट शिष्टोंकी सेवा करके उनसे निर्विषय-तत्त्वविषयक शांकर-सम्प्रदायानुमोदित ब्रह्मविद्या प्राप्त की; और अब अपने आपमें आत्मसन्तुष्ट रहकर आत्मस्वरूप परमतत्त्वका अनुभव किया जा रहा है॥ १॥

: २ :

जीवन्मुक्ति

निर्भेदोऽपि स्वदेहं सविषयकरणग्रामगेहं प्रशास्तु-
र्हस्तन्यस्तं प्रपश्यन्निरवधिकरुणावारिधेर्दन्ध्वनीति।
सर्वं वर्वर्ति तस्मिन् स च हृदि हृदयं निर्द्वयं ब्रह्म तस्मात्
कं पास्पर्धीतु किं वा परमपरमिदं पास्पृशीतु प्रवीणः॥ २॥

'यद्यपि भेदरहित है, तथापि विषय एवं करणग्रामके निवासस्थल इस शरीरको निरवधि करुणावारिधि विश्वशास्ता परमेश्वरके हाथोंमें समर्पित देखता हुआ शंखादिके समान शब्दोच्चारण आदि व्यवहार कर रहा है। इस प्रकार बोलता है कि उसीमें सब व्यवहार हो रहा है, सब रह रहा है, वह हृदयमें है। हृदय-निर्द्वय ब्रह्म है। अतः अनुभवी पुरुष किसके साथ स्पर्धा करे? अथवा जब अन्य है ही नहीं, तब किस कार्य-कारणका स्पर्श करे?॥ २॥'

: ३ :

आत्माका स्वयं ज्योतिःस्वरूप

स्वच्छं किञ्चन चिद्यमत्कृतिघनं विश्वार्पणं दर्पणम्
स्वच्छन्दं विमृशामि मामहमिदन्त्वन्तद्विचित्रं महः।
दिक्कालार्थ-विकास-ह्रास-सुषमा विष्वक्क्रमा अक्रमाः
स्पन्दन्ते सकलाकला अविकलं यस्मिञ्जगद्रश्मयः॥ ३॥

'मैं अपने आपको एक अनिर्वचनीय, स्वच्छन्द, स्वच्छ स्वप्रकाश ज्योतिके रूपमें अनुभव कर रहा हूँ। मैं चिद्‌वस्तुकी घन चमत्कृति हूँ। मैं वह दर्पण हूँ जिसमें विश्व अर्पित है। यह, तुम, वह—इनकी विचित्रता मुझमें ही भास रही है। मुझ ज्योतिर्घनसे जो विश्वरश्मियाँ स्पन्दित होती हैं, उन्हींसे देश-काल-वस्तुके विकास-ह्रासका सौन्दर्य चमकता है। उनमें सम्पूर्ण क्रम है, कोई क्रम नहीं है। वे सकल हैं, अकल हैं। मैं वही निर्विकार ज्योति हूँ॥ ३॥'

: ४ :

सब उल्लसित संवित् है

मां स्वप्रकाशमविमृश्य न कोऽपि किञ्चित्
जानाति कल्पितमकल्पितमल्पभूरि।
सोल्लाससंविदमलं सकलं पुरस्तात्
पश्यामि यामि सुखयामि भवामि भामि॥ ४॥

कोई भी मुझे स्वप्रकाशका विमर्श किये बिना कल्पित, अकल्पित, थोड़ा-बहुत कुछ भी नहीं जान सकता। जो कुछ मेरे सम्मुख भास रहा है, वह सब उल्लसित संवित्का निर्मल रूप है। मैं देख रहा हूँ। मैं प्रकाशित कर रहा हूँ। मैं सुख दे रहा हूँ। मैं हो रहा हूँ और मैं चमक रहा हूँ॥ ४॥

आत्मतरङ्गिणी टीका

(१) परमार्थतः जो सत्, चित् और आनन्द है, व्यवहारतः वही क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और प्रेमशक्तिके रूपमें विवर्तमान है। ज्ञानके बिना

: ५ :

आत्मामें दिशाका मिथ्यात्व

पौर्वापर्यपरम्परां न सहते स्थानञ्च नालम्बते
किञ्चिद्रूपमकृत्रिमं न भजते धत्ते समं सर्वतः।
संविद्रश्मितरङ्गसम्भृतवपुः पुष्णाति लोकत्रयं
केयं दिङ् मयि चाकसीति पुरतो मायेव सम्मोहनी॥ ५॥

कहाँ पूर्व और कहाँ पश्चिम--इस मर्यादाको धारण नहीं करती। किसी स्थानका आश्रय नहीं लेती। इसका कोई सहज रूप नहीं है। सब ओरसे धारण करती है। संवित्‌की रश्मि तरंगोंसे अपना शरीर बनाती है। तीनों लोकोंको धारण करती है। यह कौन है? यह है दिशा। मेरे ही सम्मुख मुझमें ही भास रही है। यह दिशा क्या है? मुझमें प्रतीतिमात्र सम्मोहनी माया॥ ५॥

: ६ :

आत्मामें कालका मिथ्यात्व

क्रामं क्राममविश्रमं भ्रमति तन्निर्विक्रमं वर्तते
ज्ञातं तूर्णमुपैति चूर्णमधुना पूर्णोपलम्भः कुतः।
आसीदस्ति भविष्यतीति कलनामूलं न विस्रम्भवन्
निर्मूलं परिकल्प्यते मयि मुधा कालाभिधानं तमः॥ ६॥

बिना विश्रामके उछलकूद मचाता भागता रहता है। इसमें कोई बलविक्रम नहीं है। दृष्टिपथमें आते ही तत्काल चूर-चूर हो जाता है। इसका पूरा रूप कभी उपलब्ध नहीं हो सकता। था, है, होगा—इस कल्पनाका मूल यही है। यह एक अविश्वसनीय निर्मूल परिकल्पनामात्र है। यह काल नामका घोर अज्ञान तम है जो मुझमें मिथ्या ही भास रहा है॥ ६॥

: ७ :

आत्मस्वरूपमें परम् निर्वृति

गाहं गाहं सरसिजवनं स्पन्दते गन्धवाहः
वाहं वाहं मधुमधुसुधां वर्धते शीतरश्मिः।
शामं शामं प्रकृति विकृतिर्निर्वृतिं याति वृत्ति
र्नामं नामं स्वरसममलं धाम मां निर्वृणामि॥ ७॥

'गन्धवाह वायु कमलवनमें बार-बार डुबकी लगाकर मन्द-मन्द स्पन्दमान हो रहा है। शीतरश्मि चन्द्रमा मधु-मधु सुधाका वहन करते हुए बढ़ रहे हैं। प्रकृति-विकृति वृत्ति शान्त हो-होकर परमानन्दमें मग्न हो रही है। स्वरस निर्मल आत्मधाममें बड़ी सुकुमारताके साथ मैं शान्त हो-होकर परमानन्दमें मग्न हो रही है। स्वरस निर्मल आत्मधाममें बड़ी सुकुमारताके साथ मैं शान्त हो रहा हूँ॥ ७॥'

: ८ :

ब्रह्मात्मामें विकार-परिणाम आदिकी अशक्यता

स्फुरन्तु विरमन्तु वा जगदनन्तकोट्यश्चिरं
वसन्तु विलसन्तु वा मयि चिदात्मके ब्रह्मणि।
विशालवियदङ्गने किमु न नीलिमा भासते
विकार-परिणामयोरवसरः कथं कल्प्यताम् ॥ ८ ॥

'मुझ चिदात्मा ब्रह्ममें जगत्की अनन्तकोटियाँ स्फुरित हों या विरामको प्राप्त हो जायें! वे चिरकाल तक निवास करें या विलास करें! विशाल आकाशके आँगनमें क्या नीलिमा नहीं चमका करती? मुझ चिदाकाशमें विकार या परिणामके अवसरकी कल्पना ही कैसे हो सकती है?॥ ८ ॥'

: ९ :

आत्माका तुरीय स्वरूप

अशेषकरणाधिपैर्गत - विशेषमाराधितो
दशासु तिसृषु स्थितो निखिल - भोगवान्निर्मलः।
तुरीय इति संज्ञया व्यवहृतस्त्रयीमस्तके-
ष्वहं हरिरबाधितो जयति कल्पनावर्जितः॥ ९॥

'अशेष अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग करणोंके स्वामी निर्विशेष रूपसे आराधना कर रहे हैं। तीनों अवस्थाओंमें स्थिति है। निखिल भोगवान् होने पर भी निर्मलता एक रस है। वेदके शिरोभाग उपनिषद्में तुरीय नामसे व्यवहार हो रहा है। मैं कल्पनावर्जित अबाधित हरि हूँ। जय हो, जय हो॥ ९॥'

: १० :

चित्समुद्रका विलास

सनर्तनं सनिःस्वनं सबिन्दुमों तरिङ्गतं
मंहोमहार्णवं नवं विभावयामि मामहो।
ऋतानृतं कृताकृतं स्मृतास्मृतं मृतामृतं
मितामितं मतामतं रतारतं सितासितम्॥ १०॥

'आश्चर्य है! आश्चर्य है! मैं अपने आपको एक नवीन ज्योति महासमुद्रके रूपमें अनुभव कर रहा हूँ। ॐ शान्तिः। मुझ चित्समुद्रमें नर्तन, निःस्वन, बिन्दु एवं तरङ्ग विलसित हो रहे हैं। मैं ही सब कुछ हूँ। ऋत-अनृत, कृत-अकृत, स्मृत-अस्मृत, मृत-अमृत, मित-अमित, मत-अमत, रत-विरत, बद्ध और मुक्त—सब मैं ही हूँ'॥ १०॥

: ११ :

शिवात्माका विमर्श

निरुत्तरचमत्कृति - प्रकृतिदिव्यधारा - भ्रम -
प्रमा - क्रम - कला - लसन्नवनवायमान - श्रियम् ।
विमर्शरचिताम्बर - प्रथित - चित्रचित्रस्मितं
शिवं किमपि मामहो विमलमद्वयं चिन्तये ॥ ११ ॥

'आश्चर्य है! आश्चर्य है! मैं अपनेको अनिर्वचनीय, अद्वय, निर्मल शिवके रूपमें अनुभव कर रहा हूँ। मुझमें एक निसर्गसे ही निरुत्तर चमत्कारमयी दिव्य धारा प्रवाहित हो रही है। उसके भ्रम एवं प्रमाकी क्रमकलासे मेरी शोभा नित्य नवनवायमान चमक रही है। विमर्शसे निर्मित आकाशमें चित्र-विचित्र चित्र प्रकट हो रहे हैं। वह मेरी अद्भुत मुस्कान है ॥ ११ ॥'

आत्मा–स्वस्त्ययन स्वरूप

नभो भवतु सत्पथं श्वसितु विश्ववायुर्बलं
विचित्ररसचित्रणैः स्फुरतु रश्मिमाली चिरम्।
सुधाम्बुधिरुदश्चतात् प्रहवतान्मही सौरभं
चकासति सुखार्णवे मयि निसर्गमाविश्नतु॥ १२॥

'आकाश सद्वस्तुओंका मार्ग बने। विश्ववायु बलका संचार करे। रश्मिमाली विचित्र रसमय चित्रनिर्माणके द्वारा चिरकालतक चमके। सुधा-समुद्र तरंगायमान रहे। पृथिवी सौरभको प्रवाहित करे। मैं स्वयं सुखसमुद्र सम्पूर्ण सुषमाको धारण कर रहा हूँ। सब मेरी स्फूर्तिसे अपने-अपने स्वभावको परिपुष्ट कर लें॥ १२॥'

: १३ :

आत्मा—अधिभूत एवं अधिदैवका आश्रय

आत्मानमात्मनि जगत्त्रयसन्निवेशं
ब्रह्मादिचित्कणकलासुभगं स्फुरन्तम्।
पश्यामि देशमविशेषमशेषमन्तः
कालं च कृत्रिमनटं स्वरसच्छटायाः ॥ १३ ॥

'मैं स्वयं अपने आपमें अपने आत्माको जगमग-जगमग झिलमिलाते देख रहा हूँ। उसकी झिलमिलाहटमें लोकत्रयका सन्निवेश है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश-रूप चित्कणोंकी कलासे वह चमचमा रहा है। पूर्व, पश्चिम आदि विशेषताओंसे रहित अशेष देश अपने अन्दर ही फैल-सा रहा है। यह काल अपनी नैसर्गिक छटाका कृत्रिम नर्तक नट है ॥ १३ ॥'

: १४ :

आत्माका अनन्त सम्पद्रूप

जीमूतकल्पमविकल्पमनल्पसंपज्-
जीवातुमेव कलये ध्वनिजातवेदम्।
स्वं विन्दुसीकर-विनिर्मित - विश्वकोशं
जीवेश-कोटि - मणिमुक्तक-हारशोभम्॥ १४॥

मैं अपने आपको निःसन्देह अनल्प सम्पदाका जीवनधन, अमृतघन मेघ अनुभव कर रहा हूँ। मेरी ध्वनिसे ही वेद प्रकट हुए हैं। मेरे विन्दु-सीकरसे विश्वकोशका निर्माण हुआ है। मैं कोटि-कोटि जीव-ईश्वरकी मणि-मुक्ताका हार धारण करता हूँ॥ १४॥

: १५ :

भूमा आत्मा

यद् भाति भातु भविकं भुवि तस्य भूया-
न्नाहं भवामि न च भामि पृथक् प्रपूर्णः।
भूमाहमस्मि विभवो विभयोऽद्वितीयः
सद्भावभासितभवोऽनुभव - स्वभावः॥ १५॥

जो भास रहा है, भले ही वह भासा करे। इसी धरतीपर उसका कल्याण हो। लेकिन मैं तो सबसे निराला परिपूर्ण हूँ। मैं न होता हूँ और न भासता हूँ। मैं भवभय एवं द्वैतसे रहित 'भूमा' हूँ। मेरे सद्भावसे भवका भान होता है। अनुभव ही मेरा अपना स्वभाव है॥ १५॥

: १६ :

आत्मा—द्वन्द्वाश्रयरूप

कलाकलविकल्पना - कलितबन्धमुक्तिप्रभा -
प्रभासुरपदप्रथा - गलितभेदजालभ्रमः।
क्रमाक्रम - शमाशम - क्लमविहार-तुल्यश्रमो,
विशोकमवलोकये सकलमात्मनः स्फूर्जितम् ॥ १६ ॥

वह पद जो बन्धन और मुक्तिकी छटासे जगमगाता रहता है और जिसमें बन्धन और मुक्ति भी सकल-अकलकी कल्पनासे ही प्रतीत होती हैं, उसके अनुभवसे भेदजालके सारे भ्रम गलित हो चुके हैं। क्रम-अक्रम, शान्ति-अशान्ति, क्लान्ति और विहार—मेरे लिए समान हो गये हैं। मैं आनन्दमें भरकर देख रहा हूँ कि सब मेरे आत्माकी स्फुरणा है ॥ १६ ॥

: १७ :

आत्माका विष्णुत्व

अशेषशयनः स्वराड्विमतपक्षिराजाश्रयः
श्रियः शतसहस्रमप्युरसि कामये न क्वचित्।
गदारिदरवारिजान्न च विभर्मि हस्तोदरे
तथापि मम पूर्णता किमु जहाति तां विष्णुताम् ॥ १७ ॥

"मैं आत्मा शेषशायी नहीं अपितु अशेशायी अर्थात् सर्वव्यापक हूँ। मैं (आत्मा स्वराट् हूँ अर्थात्) मेरी शोभाके लिए कौस्तुभादि अलंकारोंकी आवश्यकता नहीं। मैं पक्षिराज गरुड़पर चढ़ना पसन्द नहीं करता। लाख-लाख लक्ष्मीको अपने हृदयसे लगाना नहीं चाहता। मैं अपनी हथेलियोंमें गदा, चक्र, शंख एवं पद्म धारण नहीं करता। फिर भी मेरी पूर्णता क्या उस विश्वविख्यात विष्णुताका परित्याग कर सकती है? (अर्थात् नहीं कर सकती) ॥ १७ ॥"

: १८ :

आत्माका शिवत्व

निलिम्परसनिर्झरी-शशिकिरीट-विद्युज्जटा
कलापपरिवर्जितो वृषभनागचर्मोज्झितः।
तुषारगिरिनन्दिनी गणपतिप्रसङ्गं विना
शिवोऽहमनिहः परं स्वमहिमावदातोऽनहम्॥ १८॥

''न मेरे सिरपर देवताओंकी रसझरी सुरसरिता है, न चन्द्रमाका किरीट है और न चम-चम चमकती जटा है। बैल और हाथीके चाम तो मेरे पास कभी फटकते भी नहीं, मैंने न कभी हिमगिरि-नन्दिनीको देखा और न गणेशसे कभी मिलन हुआ। (फिर भी) मैं अपनी महिमासे निर्मल अहं-भावरहित, अहिरहित केवल शिव हूँ''॥ १८॥

: १९ :

आत्माका रसरूप

रतिमयि लतिके त्वं राजसे किं रसेन
स्मितसुखसुषमाया रङ्गमङ्गं व्यनक्षि।
स्पृशसि ननु रसालं स्वादसंचारचारु-
र्विमृशसि निजमन्तश्चिच्चमत्काररसारम् ॥ १९ ॥

'हे प्रेममयी लतिके! क्या तुम प्रेमानन्दमें मग्न होकर झूम रही हो? तुम्हारा अंग-प्रत्यंग स्मित एवं सुख-सुषमाका रंगमंच बनकर प्रकट हो रहा है। तुम परम रसमयी होकर दूसरोंके हृदयमें भी रस-माधुर्यका विस्तार करती रसालका स्पर्श कर रही हो? क्या तुम अपने रसालके और सबके हृदयमें चित्-चमत्कार नन्दकुमारका अनुसन्धानकर रही हो?' ॥ १९ ॥

: २० :

आत्मा-शून्याशून्यका साक्षी

अनुमाशतमुत्थितमुत्तरलं प्रतिबोधचितः किमु संवरणम्।
ननु शून्यमशून्यमृतेऽनुभवं कथमृच्छतु बुद्धिपथं वितथम्॥ २०॥

यदि सैकड़ों अनुमान ज्वार-भाटेकी तरह उठ खड़े हों तो क्या प्रत्येक वृत्तिज्ञानमें रहनेवाली चिन्मात्र वस्तुको आवृत कर सकते हैं? चाहे शून्य हो या अशून्य-अनुभवके बिना वह मिथ्या है और बुद्धिपथमें आरूढ़ नहीं हो सकता॥ २०॥

: २१ :

आत्माका विमर्शोपाधिक एवं निर्मल स्वरूप

अहमस्मि न चेदिदमस्ति कथ-
न्त्विदमस्ति न चेदहमस्मि कथम्।
अनयोः सदसत्त्व-कथैव वृथा
यदि चित्त्वविमृष्टिरदृष्टचरी॥ २१॥

'मैं' न हो तो 'यह' कैसे ज्ञात होगा और 'यह' न हो, तो उससे अलग 'मैं' कैसे ज्ञात होगा? 'मैं' और 'यह' के होने न होनेकी कथा ही वृथा है यदि अपने चेतनत्वका विमर्श अदृष्टचर अर्थात् कभी देखा सुना न हो!॥ २१॥

: २२ :

विमर्शमणिदीपक-द्युतिविलास-हासावली-

विनिर्मित - जगत्त्रय-प्रकृतिकालदेशाश्रियम्।

प्रकाशविशदं मदामदपदं प्रमोदास्पदं

स्वतन्त्रमनुचिन्तये नवनवं निजं स्पन्दितम्॥ २२॥

'विमर्शके मणिदीपकका द्युतिविलास मेरी हास-पंक्ति है। उसीसे लोकत्रयकी प्रकृति, काल एवं देशकी शोभाका विस्तार हुआ है। मैं निर्मल प्रकाश हूँ। मैं मद एवं शान्ति हूँ। प्रमोदका आश्रय हूँ। मैं अपनेको स्पन्दमान नित्य-नूतन एवं स्वतंत्र अनुभव कर रहा हूँ॥ २२॥'